

हिन्दी के साहित्य लेखन की बदलती दिशाएँ

डॉ० वीरेन्द्र सिंह यादव,

एसोसिएट प्रोफेसर—हिन्दी एवं अन्य भारतीय भाषा विभाग,
डॉ० शकुन्तला मिश्रा राष्ट्रीय पुनर्वास विश्वविद्यालय, लखनऊ—226017, उ.प्र.

शोध सारांश

साहित्यकार के जीवनानुभव जितने गहरे और व्यापक होंगे उनकी निरीक्षण क्षमता जितनी सूक्ष्म और पैनी होगी, उसकी कल्पना शक्ति जितनी उर्वर होगी, उसमें सत्यान्वेषण की जितनी क्षमता होगी, लेखन में उसकी अभिव्यक्ति भी उतनी गहरी और संवेदनशील होगी और वह व्यापक स्तर पर पाठकों को प्रभावित करने का गुण भी रखेगा। साहित्य सत्ता—तंत्र और राजनीति के अनेक विचलनों और भ्रष्टताओं के बीच स्मृतियों को फिर से तरौताजा करने की कोशिशों में भी जुटा हुआ है। इन सबके साथ वह नई सामाजिक क्रान्तियों और उथल—पुथल की अगुआई भी कर रहा है। वर्णवादी व्यवस्था के सनातन कहे जाने वाले जड़ ढांचे की अमानवीय धारणाओं पर हमला करते हुए वह जिस नई सामाजिकता की मांग कर रहा है उसमें स्त्रियों, दलितों और पिछड़ों के लिए न्यायपूर्ण जगह होगी क्योंकि परम्पराएँ और मान्यताएँ कभी—कभी व्यवस्था को जड़ बना देती हैं जिससे सामाजिक विकास अवरूद्ध होता है। इसलिए ऐसी मान्यताओं/परम्पराओं पर सीधी चोट करना साहित्य के लिए आवश्यक हो जाता है।

Key Words: हिन्दी साहित्य, मौलिक सृजन, स्थापित लेखन, बदलती दिशाएँ।

साहित्य जीवन की भावनात्मक अभिव्यक्ति होते हुए भी भावनाओं द्वारा अनुशासित नहीं होता। मूलतः वह बीज रूप में विचार से बँधा होता है, जिसका पल्लवन पुष्पन भविष्य में होता है जो जड़ों का जटिल जाल सुदूर अतीत तक चला जाता है। यानी एक आम आदमी की तरह निश्चित कालखण्ड में बंधे होने के बावजूद व्यक्ति तभी लेखक हो सकता है जब वह उस कालखण्ड का अतिक्रमण कर हवा के झोंके और प्रकाश की किरण की तरह समूचे दिक्—काल का भ्रमण करने में सक्षम हो जाए। अपने भौतिक अस्तित्व से ऊपर उठकर विराट महसूसने की क्षमता ही लेखक के ज्ञान और संवेदना को उन्मुक्त और घनीभूत करते हुए विजन का रूप दे डालती है। इसके साथ ही भाव और विचार के स्तर पर साहित्य में परिवर्तन होते रहते हैं वे परिवर्तन

साहित्य की प्रवृत्ति के परिचायक होते हैं। राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक और धार्मिक आन्दोलनों के कारणों से भी साहित्य प्रभावित होता है। ऐसे प्रभाव विविध वादों को जन्म देते हैं। परिणामस्वरूप साहित्य परम्परागत लोक से हटकर नवोन्मेष से प्रकाश ग्रहण करने लगता है। अर्थात् साहित्य में राजनीतिक उथल—पुथल तो होती ही रहती है। सामाजिक तथा आर्थिक विसंगतियाँ भी साहित्य में स्थान पाती हैं। साहित्य के इतिहास में इस प्रकार की विद्रूपताओं—विषमताओं को कभी वादात्मक प्रवृत्ति और कभी व्यक्ति चेतना के नाम से पुकारा जाता है।

परिवर्तन समाज, साहित्य तदन्तर प्रकृति की हकीकत है। आज समय तेजी से

बदल रहा है और इक्कीसवीं सदी के प्रवेश द्वार पर खड़े होकर जब हम अपने चारों ओर दृष्टि डालते हैं तो देखते हैं कि अनेक असमंजस एवं न चाहने के बावजूद भी अपने रहन-सहन में, चेहरे की मुस्कराहट में, मित्र-शत्रु से बातचीत में, हमने बहुत नयापन गृहण कर लिया है। साथ ही भौतिक सुविधाओं को दोनों हाथों से बटोरने की बलवती इच्छा भी मन में पनपने लगी है। मगर इस सबके बाद अपनी मानसिकता में आज हम कहाँ जी रहे हैं! इसमें यहाँ स्त्री-पुरुष दोनों ही अपनी सफाई में बहुत कुछ कह सकते हैं। मसलन स्त्री कह सकती है कि महानगर में और दूसरे बड़े नगरों में उसने घर से बाहर पैर बढ़ा दिये हैं। इसके साथ ही शिक्षा के क्षेत्र में कई सोपान पार कर लिए हैं, और कोई भी ऐसा पद नहीं, जहाँ उसने पहुँचने का प्रयत्न एवं सफलता न पा ली हो। मगर इन सबके बावजूद शायद इसका उसके पास फिलहाल कोई उत्तर नहीं है कि विवाह के बाद अपने नाम के पीछे वह क्यों पति का गोत्र बड़ी सहजता से जोड़ लेती है। अगर परम्परा की दुहाई दी जाये तो यह एक बहुत गलत परम्परा है कि यहाँ व्यक्ति के नाम को ही खण्डित किया जा रहा है। एवं उसकी व्यक्तिगत पहचान को एक साजिश के तहत समाप्त किया जा रहा है। एक समाचार पत्र ने विश्वविद्यालयों में अध्ययनरत एवं शोधरत छात्राओं से पूछा गया कि प्रेम और विवाह के सम्बन्ध में उनकी क्या राय है तो उत्तर था कि प्रेम तो एक उम्र आने पर किया ही जाता है, और वह किसी से भी प्रेम कर सकती हैं। किन्तु विवाह तो माता-पिता की सहमति से ही होगा। प्रश्न उठता है कि इस दोहरी मानसिकता में जीना किस आधुनिकता की देन है ? क्या इसके पीछे-भविष्य की सुरक्षा, पिता से प्राप्त होने वाला धन अथवा आडम्बरपूर्ण विवाह की तड़क-भड़क में खो जाने का मोह नहीं है ? कुछ समय के लिए ही किया गया वह प्रेम क्या उस युवक को भारी नहीं पड़ जायेगा जो थोड़ा भावुक और मन

से कच्चा है ? क्या यहाँ युवती के रूप में स्त्री अपने कुछ समय के भाड़े से सुख के लिए शोषक की भूमिका नहीं निभा रही है ?

टी. एस. इलियट ने अपने निबन्ध द फ्रंटियर आफ क्रिटिसिज्म (1918) में रचना-प्रक्रिया को कृति की आलोचना के संदर्भ में महत्वपूर्ण बताया था किसी रचना की सही आलोचना तभी हो सकती है जब उसके सृजन-उत्स और रचना-प्रक्रिया का ज्ञान हो। इलियट का मानना है कि रचना का मूल्यांकन, अनुभूति बनाम सहानुभूति या स्वानुभूति बनाम समानुभूति की दृष्टि से किया जाने लगे और लेखक को इस या उस पर लिखने से वंचित कर उसकी अन्तर्वस्तु या दायरा सीमित करने की कोशिश की जाने लगे, तब रचना-प्रक्रिया की प्रकृति के प्रकाश में इन सब बातों की परख करना आवश्यक हो जाता है। इस प्रकार के आग्रह रचना-प्रक्रिया के स्वभाव को उलट देना चाह रहे हैं, जो खतरनाक हैं। हम सब कुछ अस्वीकार कर सकते हैं पर रचना-प्रक्रिया के स्वभाव को नहीं। ठीक वैसे ही जैसे मां के गर्भ में सम्पन्न होने वाली शिशु रचना की प्रक्रिया को भले ही उसकी परिपुष्टता और प्रसव को वैज्ञानिक साधनों ने कितना ही संबर्धित और आसान कर दिया हो पर उसकी प्रक्रिया को नहीं उलटा जा सकता। पर दलित-लेखन और स्त्री लेखन की चर्चा में इस सत्य की उपेक्षा से प्रकट होने लगा है कि हमारे आचार्य सिरफिरे थे जिन्होंने साधारणीकरण जैसे सर्वव्यापी और सर्वकालिक अवधारणा की प्रतिष्ठा की थी, साथ ही वे प्रतिपादक मूर्ख थे जिन्होंने सृजन को सौन्दर्य-बोध से जोड़ा था और वह मनोविज्ञान झूठा है जिसने तदनुभूति (इम्पैथी) का उद्घाटन किया है।

इस परिपेक्ष्य में कुसुम वार्ष्णेय का मानना है कि अनुकरण के द्वारा रचनाकार नवीन रूप और नवीन अर्थ की सृष्टि करता है। अप्रत्यक्ष

बोधों से गढ़े पात्रों और घटनाओं द्वारा कोई भी लेखक विभाजन के संत्रास, संघर्ष, टूटन, पीड़ा और मूल्य-संक्रमण की जीवंत प्रस्तुति करता है। इसीलिए सामान्य व्यक्ति और रचनाकार की अनुभूति में अन्तर स्पष्ट झलकता है। इसलिए वर्ड्सवर्थ ने अपने काव्य संग्रह में कवि की जिन छः शक्तियों का जिक्र किया है उनमें चित्रण शक्ति को पहला स्थान दिया है और अनुभूति शक्ति को दूसरा। सच भी यही है कि यदि रचनाकार में संवेदनशीलता और सूक्ष्म निरीक्षण क्षमता का अभाव है तो सिर्फ स्वानुभूति के भरोसे वह सार्थक रचना को जन्म नहीं दे सकता।

लेखक को जिस चीज का बोध आनन्द प्रदान करता है, वह सुन्दर है। त्रासदी से भी आनन्द की प्राप्ति होती है। वह भी रचनाकार के सौन्दर्य-बोध को तृप्त करता है। अनुभव से जो अर्थदीप्ति होती है वही सौन्दर्य बोध है। सौन्दर्य बोध एक सृजनशील प्रक्रिया है। जब रचनाकार को किसी सत्य या अर्थ का बोध हो जाता है तभी उसमें सम्प्रेषण की उत्कृष्ट इच्छा जन्म लेती है। अर्थात् स्वानुभव तभी गहरे अर्थों से जुड़ते हैं, जब रचनाकार उन्हें निर्वैयक्तिक दृष्टि से जांचे-परखे और उनके सौन्दर्य-बोध प्राप्त कर किसी सत्य का साक्षात्कार करें। इसलिए अनुभूति बनाम सहानुभूति और स्वानुभूति बनाम परानुभूति का आग्रह करने वालों को इस बात की जांच करनी चाहिए कि रचना किस तरह की संवेदना उत्पन्न करती है। किसी भी रचना का स्वर इस बात की पहचान करा देता है कि किस बात की कचोट से विचलित होकर लेखक ने रचना को जन्म दिया है।

कई बार देखने में आया है कि एक अनुभव से दो रचनाकार अलग-अलग अर्थ अन्वेषित करते हैं क्योंकि दो सामान्य व्यक्तियों के बोध के समान ही दो लेखकों के बोध में भी अन्तर होता है। पर लेखकों का बोध सामान्य व्यक्ति के बोध से अलग और विशिष्ट है क्योंकि

उसमें सत्यान्वेषण की अन्तर्दृष्टि भी शामिल रहती है। सामान्य व्यक्ति जहाँ किसी वस्तु, घटना या अनुभव की गंध मात्र ही पकड़ पाता है वहाँ रचनाकार उसमें निहित कारणत्व को पकड़ने की भी सामर्थ्य रखता है। यह सामर्थ्य उसके अपने काव्यात्मक बोध के कारण सम्भव होती है।

नया और मौलिक सृजन सदैव स्थापित लेखन के विरोध में होता है या वस्तु के उन कोणों को उजागर करने के लिए होता है जिन पर दूसरे रचनाकार की दृष्टि नहीं गई होती है। यह भी कभी कभी होता है कि कई बार दूसरों का लिखा लेखक को इतना अधिक उत्तेजित कर देता है कि वह उस पर लिखे बिना नहीं रह पाता और वह जिस रचना से उद्वेलित हुआ होता है उससे अधिक सफल रचना को जन्म देने में सफल हो जाता है। कहते हैं टॉलस्टॉय को अपने विश्वविख्यात उपन्यास वार एंड पीस को लिखने की प्रेरणा 'जोसेफ दी मेस्टो' के ला सोरे दी सेंट पीटर्स से मिली थी। सोमर सेट मॉम ने इस कथन की जांच के लिए यह कृति पढ़ी थी और पाया था कि यह बात इकदम सही है। इससे टॉलस्टॉय का महत्व कम नहीं हो जाता क्योंकि टॉलस्टॉय ने उससे अधिक प्रतिभाशाली रचना को जन्म दिया।

साहित्य मूलतः प्रयोजन मूलक होता है। दुनिया की श्रेष्ठ से श्रेष्ठ साहित्यकृति इस बात की साक्षी रही हैं कि उसमें मनोरंजन के अलावा, मानव संवेदना लोक कल्याण, व्यवहारी ज्ञान, अमंगल का निवारण और बेहतर भविष्य का निर्माण आदि अनेक तत्व आधारभूत होते हैं। साहित्य के अन्यान्य प्रयोजनों के परिप्रेक्ष्य में इस सच को स्वीकारना होगा कि काल के अनुरूप यह प्रयोजन भी परिवर्तित होते जा रहे हैं। रचना को प्रकाशित कर कम समय और श्रम में अधिक प्रसिद्धि पाना, साहित्यकार के रूप में सिद्ध होना, चर्चा में बने रहना, विसंगतियों पर प्रहार करना, दुश्चरित्र का पर्दाफाश करना, गंदी राजनीति को

बेनकाब करना, अपने होने का एहसास दिलाना, सामाजिक विकास में योगदान करना और आय के स्रोत पाना आदि प्रयोजन साहित्य के अन्यान्य प्रयोजनों में उल्लेखनीय होते जा रहे हैं ।

सन्दर्भ ग्रन्थ

1. यादव राजेन्द्र, मेरे साक्षात्कार, किताबघर प्रकाशन, 2002
2. राय गोपाल, हिन्दी साहित्य का इतिहास, राजकमल प्रकाशन, 2002
3. रजवार शीला, स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी कथा साहित्य में नारी के बदलते संदर्भ, ईस्टर्न बुक डिपो, दिल्ली, 1989
4. रस्तोगी डॉ. शैल, हिन्दी उपन्यासों में नारी, नई दिल्ली, 1977
5. राय विद्याशंकर, आधुनिक हिन्दी उपन्यास और अजनबीपन, 1981
6. वार्ष्णेय लक्ष्मीसागर, हिन्दी उपन्यास: उपलब्धियां , राधाकृष्ण प्रकाशन, 1973
7. वाजपेयी नन्ददुलारे, हिन्दी उपन्यास की बीसवीं सदी, लोक भारती, इलाहबाद, 1963
8. वर्मा धनंजय, आधुनिकता के बारे में तीन अध्याय, विद्या प्रकाशन, 1984